कुषाण काल में कला का विकास

Basant Kumar[1]* Dr. Sanjay Kumar[2]

[1] Research Scholar, Department of History, CMJ University, Shillong, Meghalaya

[2] Assistant Professor in History, Govt. College Krishan Nagar, Haryana

सार - कला का उद्भव हजारों वर्ष पूर्व हुआ। भारतीय कला हमारी बहुमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। मनुष्य में कला के प्रति प्रेम प्राकृतिक वातावरण के नैसर्गिक सौन्दर्य और दैनिक जीवन की घटनाओं को देखकर उत्पन्न हुआ। मानव-जीवन में कला का एक दूसरे से सदैव के घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा है। भारतीय कला की इस धरोहर पर हमें गर्व होना चाहिए क्योंकि अन्य देशों की सभ्यताएँ जब प्रथम सोपान पर अपना पाँव रख रही थीं, तो आज से हजारों वर्ष पहले हमारी सैन्धव सभ्यता इतनी विकसित सभ्यता थी कि वहाँ के कलात्मक अवशेषों को देखकर आँखें चकाचैंध हो जाती हैं। इन कलात्मक अवशेषों पर जब विश्व के अन्य देशों की नजर पड़ी तो वे आश्चर्यचकित रह गये। अतः भारत की उन्नतशील सभ्यता के प्रति द्वेष-भाव पैदा होना स्वाभाविक बात थी। कला मानव की आन्तरिक अनुभूति का प्रकट रूप है। मानव मस्तिष्क में जिस प्रकार का भाव शिल्पी के अन्तःकरण में उठता है वहीं से एक अनगढ़ पत्थर पर पड़ने वाली छेनी से उसका आकार रूप सामने परिलक्षित होता है।

----------♦----------

मनुष्य ने अपने जीवन के अन्तरंग अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए कला को सहज माध्यम के रूप में अपनाया। मनुष्य की रूचि जब कला में हुई तो उसके मन के भाव जागृत हो गये। मनुष्य का कर्म तथा धर्म और आध्यात्म ही कला को प्राण रस से परिपूर्ण कर सका। शिल्पकारों ने अपनी धार्मिक भावना को प्रकृति, सौन्दर्य एवं रूप के समावेश से कल्पित करके साकार किया। भारतीय कला की मौलिकता को देखकर विदेशी लोग यह कह उठे कि यह कला विदेशी प्रभाव से प्रभावित दिखाई देती है। इस तरह अगर देखा जाये तो हमारी भारतीय कला का गौरवमयी इतिहास सैन्धव सभ्यता की मूर्तिकला, नगर-नियोजन, भवन निर्माण, मौर्य मूर्तिकला, अशोक स्तम्भ, शुंग मूर्तिकला, पश्चिमी घाट के शैलोकृत चैत्य एवं बिहार, साँची और अमरावती के स्तूप, गान्धार-मथुरा-सारनाथ की मूर्तिकला आदि कलात्मक निधियाँ इतनी उत्कृष्ट कोटि की थीं, कि जिनकी समानता अन्य किसी भी देश की कलात्मक कृतियाँ नहीं कर सकती थीं।

भारतीय कला भारतवर्ष के विचार, धर्म, तत्त्वज्ञान और संस्कृति का दर्पण है। भारतीय जनजीवन की पुष्कल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। देश के प्रत्येक स्थान पर कला की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। भारतीय कला को दीर्घकालीन 'रूपसत्र' कहना उचित है जिसने देश के प्रत्येक भू-भाग में अपना अध्य अर्पित किया। जब भारतीय संस्कृति का प्रसार समुद्र पार और पर्वतों के उस पार हुआ तब भारतीय कला के रूप और उसके अर्थ भी उन-उन देशों में बद्धमूल हुये। द्वीपान्तर या हिन्देशिया से लेकर मरूचीन या मध्य एशिया तक का विशाल भू-खण्ड भारतीय कला की मेघवृष्टि से उत्पन्न फुहारों से भर गया। कला की यह सामग्री देश और काल दोनों में महाविस्तृत है। वी.एस. अग्रवाल का मानना है कि- ''इसका आरम्भ सिन्धु उपत्यका में तृतीय सहस्राब्दि ईस्वी पूर्व से होता है और लगभग पाँच सहस्र वर्षो तक इसका इतिहास पाया जाता है''। इस तिथि का क्रम अग्रवाल जी ने इस प्रकार सुनिश्चित किया है-

1. सिन्धु सभ्यता की कला-लगभग **2500-1500** ई.पू.
2. वैदिक सभ्यता-लगभग **2000-1000** ई.पू.
3. महाजनपद युग-लगभग **1200-600** ई.पू.
4. शैशुनाग-नन्द युग-लगभग **600-326** ई.पू.
5. मौर्य युग-लगभग **325-184** ई.पू.
6. शुंग वंश-लगभग **184-72** ई.पू.

7. क्ण्व वंश-लगभग **72-27** ई.पू.

8. वाहिव्क-यवन और मद्रक यवन-लगभग **250-150** ई.पू.

9. क्षहरात शक-लगभग प्रथम शती ई.पू. -**390** ई.

10. सतवाहन वंश-लगभग **200** ई.पू. से **200** ई.

11. शक कुषाण-लगभग **80** ई.पू. से दूसरी शती ईस्वी

ऊपर जिस तरह तिथि-क्रम का उल्लेख है उसमें सिन्धु घाटी से लेकर नन्दवंश के पूर्व तक भारतीय कला का आद्ययुग था। इसके उपरान्त मौर्य काल से हर्ष के समय तक उसका मध्य युग है जो उसके पूर्ण यौवनावस्था का युग था। इसके भी दो भाग हो हाते हैं - एक के अन्तर्गत मौर्य शंुग, कण्व और सातवाहन युग की महान् कलाकृतियाँ हैं। इस पूर्व युग में कला के अंकुर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अपनी पहचान प्रस्तुत कर रहे थे। इस काल के कला केन्द्र सारनाथ, भरहुत, साँची, बोधगया, अमरावती, भाजा थे। इस युग के उत्तरार्ध में प्रथम शती ई. से लेकर लगभग सातवीं शती तक अर्थात् कनिष्क से हर्ष तक की कलाकृतियाँ आती हैं। यह काल भारतीय कला के विकास की चरम उन्नति का काल था और यहीं से आगे आने वाली कला को एक पृष्ठभूमि मिलती है।

मूर्तियों का प्राप्ति स्थान और उस समय-काल की तिथिक्रम को जानने से ही उस युग की कला के बारे में जानकारी प्राप्त हो जाती है और इसी को आधार माना जाता है कि जिस पत्थर का प्रयोग किया गया है और यह पत्थर कहाँ प्राप्त हुआ उसी को ध्यान में रखकर कला केन्द्रों का पता सम्भव हो पाता है। उदाहरणस्वरूप ''सिन्धु घाटी में कीरथर पहाड़ी की खदानों का सफेद खड़िया पत्थर (भौलामाटा या अं. लाइम स्टोन) काम में लाया जाता था। मौर्य काल की कला के लिए चुनार की खदानों का हल्के गुलाबी रंग का ठोस बलुहा पत्थर काम में लाया गया। मथुरा काल में मँजीठी रंग का चित्तिदार बलुहा पत्थर जो सीकरी, बयाना आदि स्थानों में मिलती है, प्रयुक्त किया गया है। गान्धार कला में नीली झलक का स्लेटी या पपड़िया या परतहा तिलकुट पत्थर काम में लाया जाता था।

जैसा कि कला का विकास प्रागैतिहासिक काल से माना जाता है उस समय अधिकतर स्थापत्य कला का विकास हुआ और निरन्तर इसका विकास कला में होता चला आया। लेकिन सिन्धु सभ्यता से ही मूर्ति निर्माण का प्रचलन हो गया तथा उसी समय से मूर्तियों के विषय में जानकारी मिलने लगी। कला के कई अनेक भाग हैं परन्तु हमारा शोध कार्य कुषाण कालीन मूर्तिकला पर है। लेकिन कला के प्रारम्भिक स्वरूप का अध्ययन भी अति आवश्यक है। अतः कला के प्रारम्भ से लेकर कुषाण काल तक की कला पर प्रकाश डालने का एक विनम्र प्रयास किया है। लेकिन कला के विकास में स्थापत्य और चित्रकला का भी महती योगदान है, परन्तु हम इसका सूक्ष्म अध्ययन ही करेंगे। हमारा पूरा शोध कार्य मूर्तिकला पर ही केन्द्रित होगा। इस तरह हम कला का विकास निम्न चरणों में देखते हैं और उसी को आधार बनाकर प्रारम्भ काल से लेकर अपने शोध शीर्षक ''उत्तर भारती कुषाण मूर्तिकला का सौन्दर्यात्मक अनुशीलन'' में कुषाण काल तक की कला के विकास का अध्ययन करने का एक विनम्र प्रयास कर रहे हैं।

मूर्तिकला की विशेषता

प्राचीन भारतीय कलाओं में मूर्तिकला सर्वाधिक लोकप्रिय थी। मूर्तिकला मानव-जीवन के अभिन्न अंग के रूप में लौकिक परम्पराओं में व्याप्त थी। भारतीय जीवन के विभिन्न आदर्शों की प्रगति मूर्तिकला का उद्देश्य रहा है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का संवर्द्धन ही भारतीय मूर्तिकला का आदर्श है। भारतीय मूर्तिकला मानव के निःश्रेयस सिद्धि के साथ जीवन के भौतिक पक्षों की उपेक्षा नहीं करती है। वास्तव में आध्यात्मिक भावना मूर्ति के अन्तःकरण से झाँकती रहती है किन्तु दृश्य नहीं है।

भारतीय मूर्तिकला परम्परा प्रधान है लेकिन एक ही परम्परा हर आने वाले वंश में नहीं रहती है। पूर्व की परम्परा का अनुकरण करके एक आदर्श प्रस्तुत किया जाता है और उसका अनुकरण मात्र किया जाता है तथा उससे उत्कृष्ट कला का निर्माण किया जाता है। लेकिन यह देखा जाता है कि मूर्तिकलाकार एक शिल्पी या व्यवसायी के रूप में कला का विकास कर रहा था। अतः यह माना जा सकता है कि कुछ हद तक परम्परा का प्रभाव दिखेगा, पूर्ण रूप से नहीं।

भारतीय कला का विकास धर्म को आदर्श मानकर किया गया है। कलाकार भारतीय मूर्तियों में देवी-देवताओं का प्रायः अंकन किया है। भारत में धार्मिक मूर्तियों का ही आधिक्य है। मूर्तिकाल ने धर्म एवं जीवन में एकरसता उत्पन्न करने का प्रयास किया है। मूर्तिकार ने मूर्ति निर्माण की प्रक्रिया में धर्म प्रधान एवं धर्म निरपेक्ष मूर्तियों का सहअंकन करके अपनी बहुमुखी प्रतिभा का ही परिचय दिया है। इसी क्रम में मूर्तिकार अपने रचना शिल्प में कभी भी देवी-देवता की मूर्ति का विकृत रूप प्रस्तुत नहीं किया है। उसने सुखद ओर आनन्दमय रूप को उकेरने का प्रयास किया है। जिससे हम देवी-देवताओं की मूर्तियों को देखते ही श्रद्धावनत् हो जाते हैं और यही मूर्तियाँ धार्मिक,

आध्यात्मिक स्तर पर मानव समाज के लिये एक आदर्श बन जाती हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि हमारी मूर्ति रचना की कल्पना कलाकार जो कि मूर्ति के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है उसमें व्यञ्जना दिखती है। मूर्तियों का मुख-मण्डल, वरद रूप में हाथ, अभय मुद्रा में उठाये हुये हाथ आदि के माध्यम से यह कल्पित किया जाता है कि मूर्ति की अभिव्यंजना क्या है और कलाकार इसी को माध्यम बनाकर मूर्ति का निर्माण करता है। इस तरह की मूर्तियों को देखकर ही एक भाव जागृत हो जाता है। साहित्य दर्पण में एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि -"कला सहृदय के लिये है।"

भारतीय कला का माध्यम प्रारम्भ में प्रतीक प्रधान था। हीनयान सम्प्रदाय में प्रतीक का विशिष्ट स्थान था। साँची की मूर्तिकला पूर्ण रूप से बौद्ध परम्परा में है। किन्तु प्रतीकों के अलावा बुद्ध मूर्ति का निर्माण देखने को नहीं कमलता है। बोधिवृक्ष, गजशावक, त्रिरत्न, भद्रासन, स्तूप आदि महात्माबुद्ध के जीवन के विभिन्न घटनाओं के प्रतीक रूप में प्रस्तुत हैं। प्रतीकों के माध्यम से ही हम एक देवता को दूसरे देवता से पृथक् करते हैं। नग्न बोद्ध एवं जैन मूर्ति में भिन्नता स्थिर करना दुष्कर है किन्तु वक्ष पर स्वास्तिक चिन्ह से जैन मूर्ति को अलग करके पहचाना जा सकता है। इस तरह प्रतीकों का मूर्ति कला में विशेष महत्त्व है।

भारतीय मूर्तिकला में रस की सहजता है। रस के कारण मूर्तियों को समझा जा सकता है कि क्या भाव प्रस्तुत कर रही हैं। रस कला की आत्मा है।" साहित्य दर्पण में 'वाक्यं रसात्मक काव्यं' कहा गया है। मूर्तियों में श्रृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स, करूण, शान्त, हास्य तथा वात्सल्य रसों का संचार होता है। उनके शारीरिक गठन, मुखमुद्रा, हस्तमुद्रा तथा प्रतीकों के माध्यम से सहज ही होता है। महिषमर्दिनी दुर्गा से बढ़कर रौद्र रूप क्या हो सकता है। अतः रस भारतीय मूर्तिकला की एक प्रमुख विशेषता है।

तकनीक की दृष्टि से भारतीय मूर्तिकला का इतिहास हड़प्पा काल से ही दृष्टिगत होता है। मिट्टी की हस्तनिर्मित मूर्तियाँ, उसके बाद प्रस्तर एवं कास्य की मूर्तियाँ चर्तुदर्शन रूप में बनायी गई हैं। कुषाण काल में मथुरा एवं गान्धार की कला परम्पराओं में त्रिपाश्र्वदर्शक स्वतन्त्र मूर्तियों का निर्माण किया गया तथा आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति के लिये मुखमुद्रा का प्रश्रय लिया गया। ये सारी मूर्तियाँ सौन्दर्य-बोध के लिये विख्यात हैं। लेकिन गुप्त युग तकनीकी दृष्टि से पूर्ण विकसित था। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय मूर्ति विधान में कलाकार तकनीक का सहारा लेकर ही मूर्ति निर्माण का कार्य किया और यही तकनीक विश्व की कला से भारतीय कला को पहचान देती है।

मूर्ति कला का विकास और उसकी विशेषता सामाजिक दायित्व-बोध को दर्शाती है। किसी भी राजवंश या काल में कलाकार की भी भूखे पेट रहकर किसी प्रकार की कला या मूर्ति का निर्माण नहीं कर सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि कलाकार को सामाजिक तथा आर्थिक रूप से शसक्त रहना चाहिए। इसी को शासक वर्ग समझता था और उनको अपपने राज्य में प्रश्रय देकर कला का विकास निरन्तर और अबाध गति से चलाता रहा। सामाजिक स्थिति के कारण मूर्तियों के वेश-भूषा तथा उनका अलंकरण और रस की परिपक्वता प्रमाणित होती है। आर्थिक दशा में यदि कलाकार अपने को अक्षम पाता है तो कला निखर नहीं सकती है। अनेक प्रकार की धातुओं से निर्मित मूर्तियाँ तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने ले जाने का कार्य अर्थाभाव के कारण नहीं हो सकता। अतः सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टि से मूर्तिकला की अपनी एक विशेषता है। मूर्तिकला का यदि गहन रूप से अवलोकन किया जाये तथा उनके माध्यम से कलाकार की आत्मा का दर्शन करें तो, निश्चय ही उस युग की सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का ही बोध होगा।

इस प्रकार भारतीय मूर्तिकला की मुख्य विशेषताओं में परपम्परा की प्रधानता, धर्म की प्रधानता, आदर्श की प्रधानता, भाव-व्यंजना की प्रधानता, प्रतीक की प्रधानता, रस एवं सौन्दर्य बोध, तकनीकी तथा सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की विशेषता विद्यमान है।

सन्दर्भ

कनिंघम, ए.: प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, इलाहाबाद, 1979

झा, डी.एन. कृष्णमोहन श्री माली: प्राचीन भारत का इतिहास बुद्धिज्म इन क्लासीकल ऐज, दिल्ली, 1985

पाण्डेय, वी.सी.: प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 2011

पाठक, विशुद्धानन्द बील, सैमुअलः पांचवीं-सातवीं शताब्दी का भारत बुद्धिस्ट रिकार्ड आॅफ द वेस्ट्न वल्र्ड, दिल्ली, 1995

..... : दी लाइफ ऑफ़ ह्वेनसांग, दिल्ली, 1973

.....: दी ट्रैवल्स ऑफ़ फाह्यान एंड सुग युन, दिल्ली, 1998

मुखर्जी, पी.के.: इंडियन लिट्रेचर इन चाईना एण्ड फार ईस्ट,

कलकत्ता, 2012

मार्शल, नागौरी, एस.एल.: प्रिंसीपल्स ऑफ़ इक्नोमिक्स, प्राचीन भारत

मजूमदार, आर.सी.: दी क्लासीकल ऐज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 2009

लेग्गे, जेम्सः दी ट्रैवल्स ऑफ़ फाह्यान, दिल्ली, 1971

Corresponding Author

Basant Kumar*

Research Scholar, Department of History, CMJ University, Shillong, Meghalaya